विज्ञान कांग्रेस शताब्दी के बहाने आत्म मंथन

पी. बलराम

भारत में विज्ञान कांग्रेस ही वैज्ञानिकों का ऐसा एकमात्र आयोजन है, जिसकी तरफ मीडिया का ध्यान जाता है। दिलचस्प बात यह है कि कुछ ही वैज्ञानिक ऐसे हैं जो इसे इतनी महत्त्वपूर्ण घटना मानते हैं। आज विज्ञान कांग्रेस के दौरान दिखावा और धूमधाम मूल मुद्दों पर हावी हो गए हैं। पिछले कई वर्षों से कांग्रेस एक ऐसे कार्यक्रम में तब्दील हो गई है, जिसका उद्घाटन समारोह मानो उसके अस्तित्व के लिए अपरिहार्य बन गया है।

इसमें उद्घाटन भाषण पारंपरिक रूप से प्रधानमंत्री देते हैं। अपने इस भाषण में वे विज्ञान को समर्थन देने और नौकरशाही की अनेक बाधाओं को हटाने का वादा करते हैं, जो कई वैज्ञानिकों के दिमाग में एक हौवे की तरह पैठ कर चुकी हैं। उद्घाटन समारोह में मौजूद सरकारी अधिकारी इसे भव्य बनाने के लिए इसमें अपना सब कुछ झोंक देते हैं, लेकिन इसके बाद होने वाले विज्ञान सत्र उसका मुकाबला नहीं कर पाते हैं।

इस मौके पर कई नोबेल पुरस्कार विजेताओं को भी आमंत्रित किया जाता है लेकिन श्रोताओं के पास तकनीकी मुद्दों को समझने की भूख नहीं होती। सरकार के पर्याप्त समर्थन के कारण आयोजक हमेशा अच्छे मेज़बान साबित होते हैं। प्रतिष्ठित विदेशी मेहमानों की उपस्थिति यह सुनिश्चित करती है कि विज्ञान कांग्रेस को वह सम्मान मिले जिससे विज्ञान के कार्यक्रम अक्सर वंचित ही रहते हैं।

अगली विज्ञान कांग्रेस जनवरी 2013 में होनी है। अब इसमें एक माह से भी कम समय बचा है। यह 100वीं कांग्रेस होगी। यह कांग्रेस उसी शहर कोलकाता में होगी, जहां इसकी शुरुआत हुई थी। ऐसे में यह निश्चित रूप से इसके पहले अध्यक्ष आशुतोष मुखर्जी (1864-1924) की स्मृतियों का सम्मान होगा। 20वीं सदी के शुरुआती दो दशकों में कोलकाता और भारत में विज्ञान के 'पुनर्जागरण' का श्रेय मुखर्जी को ही दिया जा सकता है। उस समय कलकत्ता बौद्धिकता का केंद्र हुआ करता था, जो भारत में राष्ट्रवाद की पहली लहर का भी साक्षी बना। वर्ष 1911 में अंग्रेज़ों द्वारा अपनी राजधानी कलकत्ता से हटाकर दिल्ली करने के बाद भी कलकत्ता ने स्वयं को बड़ी ही दृढ़ता से आधुनिक विज्ञान की राजधानी के रूप में स्थापित किया।

आशुतोष मुखर्जी के ज़माने में हुई विज्ञान कांग्रेस को लेकर जो माहौल था, निश्चित तौर पर एक सदी बाद होने वाली इस विज्ञान कांग्रेस में वह नदारद रहेगा। इस दौरान न केवल कलकत्ता का नाम बदला, बल्कि सदी की उथल-पुथल के चिन्ह भी साफ देखे जा सकते हैं।

आज से दस साल पहले विज्ञान कांग्रेस की 90वीं सालगिरह के मौके पर भारतीय विज्ञान कांग्रेस एसोसिएशन (आईएससीए) ने 'शेपिंग ऑफ इंडियन साइंस' शीर्षक से तीन खंडों में एक किताब जारी की थी। इनमें विज्ञान कांग्रेस में दिए गए तमाम अध्यक्षीय भाषण संकलित हैं। विज्ञान कांग्रेस की शुरुआत के मूल कारणों का वर्णन एक अंग्रेज़ प्राकृतिक उत्पाद रसायनज्ञ जॉन साइमनसन द्वारा 1928 में दिए गए अध्यक्षीय भाषण में मिलता है। साइमनसन को 1910 में मद्रास के प्रेसीडेंसी कॉलेज में रसायन शास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त किया गया था। वे अपने भाषण में बताते हैं कि उनके दौर में परिस्थितियां उत्साहवर्धक तो कदापि नहीं थी। सदी के शुरुआती वर्षों में विश्वविद्यालयों में अनुसंधान भी नहीं होते थे। साइमनसन कहते हैं: "मौजूदा सदी के पूर्वार्द्ध में हुक्मरान इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि भारत में विश्वविद्यालयीन शिक्षा में सब कुछ ठीक नहीं चल रहा है और इसीलिए विश्वविद्यालयीन शिक्षा पर कर्ज़न आयोग गठित किया गया था।"

आयोग ने अपनी अनुशंसाओं में नए पाठ्यक्रम (ऑनर्स कोर्स) शुरू करने, विभिन्न कॉलजो में शिक्षण स्टॉफ में बढ़ोतरी करने और विश्वविद्यालयों में अनुसंधान कार्यों को प्रोत्साहित करने की बात कही थी। साइमनसन आगे कहते

हैं कि आयोग को ''यह बात बिलकुल सही लगती है कि अगर अनुसंधान में उत्साह नहीं है तो शिक्षण में जान नहीं रहेगी।'' यदि साइमनसन मौजूदा भारत में विज्ञान की स्थिति की पड़ताल करते तो वे शायद इस सिद्धांत से सहमत होते : 'अगर शिक्षण कार्य नहीं है तो अनुसंधान में कोई जान नहीं होगी।'

साइमनसन और रसायन शास्त्र में उनके सहकर्मी कैनिंग कॉलेज लखनऊ के पीएस मैकमोहन ने भारत में वैज्ञानिकों के बीच पारस्परिक संपर्क का अभाव महसूस किया। इसलिए उन्होंने वर्ष 1911 में एक सर्कुलर जारी करके 'भारतीय विज्ञान प्रगति संघ' (इंडियन एसोसिएशन फॉर द एडवांसमेंट ऑफ साइंस) के गठन का प्रस्ताव दिया। हालांकि साइमनसन और मैकमोहन का यह प्रस्ताव 1911 में उस समय तैयार किया गया था, जब देश में ब्रिटिश शासन का सूरज शिखर पर था, लेकिन इस प्रस्ताव की बातें एक सदी बाद आज भी प्रासंगिक लगती हैं: ''हमें लगता है कि भारत में विज्ञान का भविष्य अधिक से अधिक उस व्यावहारिक प्रशिक्षण पर निर्भर करता है जो विद्यार्थी कॉलेजों की प्रयोगशालाओं में प्राप्त करते हैं। व्यावहारिक प्रशिक्षण की दक्षता को बढ़ाने के लिए इससे बेहतर तरीका नहीं हो सकता कि समस्त वैज्ञानिक ज्ञान के अंतिम लक्ष्य के तौर पर अनुसंधान को ही हम मन में बैठा लें। इस बात को रेखांकित करने का कोई औचित्य नहीं है कि कितनी और कितने प्रकार की समस्याएं समाधान की बाट जोह रही हैं या भारत का सामाजिक-आर्थिक भविष्य किस तरह कृषि और उद्योग समेत सभी गतिविधियों में वैज्ञानिक पद्धतियों के सफलतापूर्वक इस्तेमाल के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा है।'

एसोसिएशन की संभावना और उसके संविधान को परिभाषित करने के लिए गठित अंतरिम समिति में केवल दो भारतीयों को आमंत्रित किया था: प्रेसीडेंसी कॉलेज कलकत्ता के जे.सी. बोस और पी.सी. रे। इनके अलावा अधिकांश सदस्य सरकारी संस्थाओं के थे। भारतीय विज्ञान संस्थान के प्रथम निदेशक मोरिस ट्रेवर्स एक अपवाद थे।

भारत में 1928 के वैज्ञानिक परिदृश्य पर नज़र दौड़ाते हुए थोड़ी-सी निराशा के साथ साइमनसन भारतीय विश्वविद्यालयों की दशा पर असंतोष जताते हैं। वे प्रशासन के उस आदेश का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने का प्रतिशत बढ़ाने के निर्देश दिए गए थे। बकौल साइमनसन, 'इससे डिग्री के महत्त्व में कमी आएगी और अगर यही चलता रहा तो आगे जाकर अकादमिक और औद्योगिक क्षेत्रों में भारतीय विश्वविद्यालयों की डिग्री का कोई मोल ही नहीं रह जाएगा।' सर्वदा विस्तारित होते विश्वविद्यालय तंत्र द्वारा प्रदान की जा रही डिग्रियों की मौजूदा गुणवत्ता को लेकर चिंता साइमनसन के इस भाषण के आठ दशक बाद भी बनी हुई है। साइमनसन ने बहुत सोच-विचार के बाद कहा था, ''अगर हम ज्ञान और विवेक के बीच अंतर को स्पष्ट रूप से महसूस कर लें तो स्थिति में काफी फर्क आ सकता है।'' उन्होंने कूपर को उद्धृत करते हुए कहा था:

''ज्ञान और विवेक एक नहीं हैं, दोनों में प्रायः कोई सम्बंध ही नहीं है। ज्ञान दरअसल हमारे दिमाग में भरे दूसरों के विचार होते हैं, जबकि विवेक में व्यक्ति का मस्तिष्क स्वयं के प्रति सतर्क रहता है। ज्ञान में व्यक्ति को यह घमंड रहता है कि उसने बहुत कुछ जान लिया है, जबकि विवेक में बहुत ही विनम्रता के साथ कहा जाता है कि उसने अब तक क्या कुछ नहीं जाना है।''

अध्यक्षीय व्याख्यानों के प्रथम खंड की शुरुआत आशुतोष मुखर्जी के 1914 में दिए गए भाषण से होती है। अंत जवाहरलाल नेहरू द्वारा 3 जनवरी 1947 को दिए गए भाषण से होता है। उस समय नेहरू अंतरिम सरकार के महत्त्वपूर्ण सदस्य हुआ करते थे और उन्हें भावी कठिनाइयों का एहसास था। जैसा कि उन्होंने अपने भाषण में कहा था: ''सरकारें आम तौर पर बहुत धीमी होती हैं। उन्हें आगे बढ़ाने का एक ही रास्ता होता है शोर मचाना क्योंकि यह उनके भविष्य पर परोक्ष रूप से असर डालता है। इसलिए मैं वैज्ञानिकों से यही कहूंगा कि वे किसी काम के लिए सरकार पर ही भरोसा न करें।'' यह ऐसा पहला मौका था जब नेहरू ने भारत में विज्ञान को प्रोत्साहित करने की प्रतिबद्धता को सार्वजनिक तौर पर ज़ाहिर किया था: ''हम भारत में वैज्ञानिक विकास को लेकर बहुत उत्सुक हैं और

हमें वैज्ञानिक अनुसंधानों को बढ़ावा देने के लिए वह हर संभव काम करना चाहिए, जो हम कर सकते हैं।"

वर्ष 1947 से 1964 के दौरान नेहरू युग में बड़ी संख्या में ऐसे संस्थान शुरू किए गए जो पूरी तरह से विज्ञान और इंजीनियरिंग में अनुसंधान और अध्ययन को समर्पित थे, जबकि उस समय देश की आर्थिक स्थिति भी कोई बहुत सुदृढ़ नहीं थी। नेहरू के परवर्ती शासकों ने भी अगले 50 सालों के दौरान नेहरू की भावनाओं के अनुसार ही कार्य किया है।

हालांकि पिछले करीब 12 साल में विज्ञान पर सरकारी खर्च में बेतहाशा बढोतरी हुई है और साथ ही कई नए संस्थान भी अस्तित्व में आए हैं मगर इसके बावजूद वातावरण में एक तरह की असहजता मौजूद है। देश भर में विश्वविद्यालयों के हाल खस्ता हैं। वे अनुसंधान के केंद्र नहीं हैं, जैसी कि कल्पना विज्ञान कांग्रेस के शुरुआती वर्षों में की गई थी।

आज़ादी के बाद देश में उच्च शिक्षा पर निगरानी रखने के लिए जिन संस्थाओं की स्थापना की गई थी, वे सरकारी उदासीनता के कारण आज दिशाहीन हैं। आज देश में विज्ञान की जो दशा है, उसे अगर आशुतोष मुखर्जी और जॉन साइमनसन देखते तो बहुत निराश होते। आधुनिक विज्ञान की बेहद प्रतिस्पर्धी प्रकृति के कारण आज उन लोगों के समक्ष नई चुनौतियां खड़ी हैं, जो वैज्ञानिक अनुसंधान में संलग्न हैं।

भारत में आर्थिक उदारवाद शुरू होने के बाद पिछले 20 सालों में विज्ञान के क्षेत्र में नतीजों में लगातार सुधार हुआ है। लेकिन अगर हम इस क्षेत्र की विकास दर की तुलना चीन की विकास दर के साथ करें तो भविष्य निराशाजनक ही नज़र आता है। विज्ञान नीतियों का निर्धारण करने और फंडिंग मुहैया कराने वाली सरकारी एजेंसियों व विभागों और अनुसंधान कार्य में संलग्न संस्थाओं के बीच समन्वय का अभाव दिखता है।

विज्ञान को लेकर नेहरू का जो रूमानी नज़रिया था और विज्ञान के प्रभावशाली लोगों के साथ उनकी जो घनिष्ठता थी, उनके परवर्ती शासकों में इन गुणों का अभाव रहा। आज पेट्रोलियम मंत्रालय की तुलना में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी मंत्रालय का प्रभार एक तरह का 'डिमोशन' माना जाता है। इससे एक वर्ग के बीच यह संदेश जाता है कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का देश के विकास से कोई लेना-देना नहीं है। देश में विज्ञान को लेकर ऐसे हालात बन जाएंगे, इसकी तो विज्ञान कांग्रेस के संस्थापकों ने शायद कल्पना भी न की होगी।

विज्ञान कांग्रेस के शुरुआती वर्ष भारत में विज्ञान के सुनहरे वर्ष थे। आज़ादी के बाद देश में विज्ञान के क्षेत्र में हुई अधिकांश प्रगति के बीज उस दौर में विकसित विद्वत्ता और राष्ट्र निर्माण के आदर्शों में देखे जा सकते हैं।

विज्ञान पर आधारित जर्नल *करंट साइंस* का विचार बैंगलुरु में वर्ष 1932 में हुई विज्ञान कांग्रेस में आया था। इसके कुछ माह बाद ही जुलाई 1932 में यह शुरूआत हो गई।

विज्ञान को प्रोत्साहित और पोषित करने वाले संस्थानों के निर्माण के मसले पर विज्ञान कांग्रेस में 1920 के दशक के उत्तरार्द्ध और 1930 के दशक के पूर्वार्द्ध में विचार मंथन शुरू हुआ था। इसका नतीजा अकादमियों के गठन के रूप में सामने आया। बीती एक सदी में विज्ञान कांग्रेस और वैज्ञानिक उद्यम दोनों आगे बढ़े हैं और उनमें बदलाव भी हुआ है। शताब्दी महोत्सव ऐसा अवसर होता है, जब हम बीते समय का मंथन और सिंहावलोकन कर सकते हैं। क्या भारत में विज्ञान को आकार देने में विज्ञान कांग्रेस का कोई योगदान रहा है? क्या भविष्य के राष्ट्रीय एजेंडा में विज्ञान का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान होगा?

इस आखरी सवाल का जवाब हमें मार्टिन फोर्स्टर द्वारा 1925 में दिए गए अध्यक्षीय व्याख्यान में मिल सकता है, जिसमें फोर्स्टर ने नेपोलियन बोनापार्ट को उद्धरित करते हुए कहा थाः "असली फतह, जिनमें कोई पश्चाताप नहीं होता, वे होती हैं जो अज्ञान पर हासिल की जाती हैं। किसी भी राष्ट्र के लिए सबसे सम्मानजनक और उपयोगी कार्य मानव ज्ञान के विस्तार में सहयोग प्रदान करना है।" ***(स्रोत फीचर्स)***